

राम रन बिजय सिंह और अन्य

बनाम

बिहारी सिंह उर्फ बगंधा सिंह

(पी. बी. गजेंद्रगढ़कर, के. एन. वांचू,

के.सी. दास गुप्ता, जे.सी. शाह और

एन. राजगोपाल अयंगर , न्यायमूर्तिगण)

भूमि सुधार-बंधक रखी गई भूमि — मोचन के बाद कब्जे की मांग की गई लेकिन कब्जेदार द्वारा इनकार कर दिया गया-कब्जे में रहने वाले व्यक्ति खाली करते हैं-अधिभोग अधिकार का दावा-विपरीत कब्जे द्वारा अधिकार-राज्य में निहित संपत्ति-कानून की व्याख्या-वाद भूमि यदि "खास कब्जे" में हो-बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 (XXX वर्ष 1950), धारा 2 (के), 3 (1), 4, 6-भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1908 (IX वर्ष 1908), अनुच्छेद 144।

अपीलकर्ताओं के पूर्वजों ने अन्य जमीनों के साथ आक्षेपित जमीन का पंजीकृत *रेहन* बांड निष्पादित किया था। 1941 में अपीलकर्ताओं ने *रेहन* बांड पर देय राशि का भुगतान कर दिया और बांड को भुना लिया। बांड के भुनाए जाने पर अपीलकर्ताओं ने आक्षेपित जमीन का कब्जा प्राप्त करने का प्रयास किया। ये जमीनें उत्तरदाता 1 और 2 के कब्जे में थीं, जिन्होंने जमीनों पर अपने अधिभोग अधिकारों के आधार पर स्वामित्व का दावा करते हुए कब्जा छोड़ने से इनकार कर दिया।

इसके बाद अपीलकर्ताओं ने यह आरोप लगाते हुए मुकदमा दायर किया कि विवादित भूमि *जैरेंती* भूमि थी जिसके वे *मालिक* थे, कि उत्तरदाता 1 और 2 अतिक्रमणकारी थे जिनके पास कोई अधिभोग अधिकार नहीं था और उन्होंने स्वामित्व की घोषणा, कब्जे की वसूली और मध्यवर्ती लाभ की मांग की। अपने इस दावे के अलावा कि वे *रैंयती* किरायेदार थे और अधिभोग अधिकारों के हकदार थे, उत्तरदाता 1 और 2 ने यह तर्क दिया कि प्रतिकूल कब्जे के कारण मुकदमा समय सीमा से बाधित था।

विचारण न्यायालय ने सभी महत्वपूर्ण मुद्दों को वर्तमान अपीलकर्ताओं के पक्ष में पाया, उत्तरदाताओं द्वारा उठाए गए प्रतिकूल कब्जे और परिसीमा के तर्क को खारिज कर दिया

और अपीलकर्ताओं की प्रार्थना के अनुसार वाद का फैसला सुनाया। इसके बाद वर्तमान उत्तरदाताओं ने उच्च न्यायालय में अपील दायर की। अपील लंबित रहने के दौरान बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 लागू हुआ। इस अधिनियम की धारा 3 में मालिकों की संपत्तियों या पट्टे को राज्य में निहित करने का प्रावधान था। हालांकि, धारा 6 में कुछ छूटें थीं। जब 1957 में अपील की सुनवाई हुई, तो उत्तरदाताओं ने तर्क दिया कि 1955 की सरकारी अधिसूचना के कारण धारा 6 के तहत वाद भूमि राज्य में निहित हो गई थी। अधिनियम की धारा 3 के तहत, चूंकि यह मुकदमा मूल रूप से वर्तमान अपीलकर्ताओं के स्वामित्व पर आधारित बेदखली का था और भूमि के राज्य में निहित होने के कारण अपीलकर्ताओं ने अपना स्वामित्व खो दिया था, इसलिए अपील खारिज कर दी जानी चाहिए। उच्च न्यायालय ने पाया कि वर्तमान अपीलकर्ता स्वामित्व की घोषणा प्राप्त करने और दिसंबर 1954 के अंत तक मध्यवर्ती लाभ प्राप्त करने के हकदार थे। लेकिन चूंकि मुकदमे की भूमि राज्य में निहित हो गई थी, इसलिए अधीनस्थ न्यायालय द्वारा अपीलकर्ताओं के पक्ष में दिए गए कब्जे के आदेश को रद्द कर दिया गया। यह अपील अधीनस्थ न्यायालय द्वारा पारित कब्जे के आदेश को रद्द करने वाले उच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध है और उच्च न्यायालय द्वारा जारी प्रमाण पत्र के साथ दायर की गई है।

अपीलकर्ताओं की ओर से इस न्यायालय के समक्ष यह तर्क दिया गया कि अधीनस्थ न्यायालयों के सर्वसम्मत निष्कर्षों के मद्देनजर कि भूमि अपीलकर्ताओं की *जैरैती* भूमि थी, अधिनियम की धारा 6 में निहित प्रावधान के कारण वह राज्य में निहित नहीं होगी। उनका कहना था कि उन्हें धारा 6 (1) (ग) के तहत भूमि का "खास कब्जा" माना जाना चाहिए। पटना उच्च न्यायालय के पूर्ण पीठ के *महंत सुखदेव दास बनाम काशी प्रसाद तिवारी*, ए.आई.आर. 1958 पट. 630 के फैसले पर अवलंबन करते हुए, उन्होंने तर्क दिया कि "खास कब्जा" अभिव्यक्ति को केवल अधिनियम की धारा 2 (क) में परिभाषित वास्तविक भौतिक कब्जे के रूप में ही नहीं, बल्कि उन मामलों में भी समझा जाना चाहिए जहां कोई व्यक्ति रचनात्मक रूप से कब्जे में था, भौतिक कब्जा किसी अन्य व्यक्ति के पास था जिसने उससे व्युत्पन्न रूप से या उसके लिए न्यास में या उसकी ओर से या उसकी स्पष्ट या निहित अनुमति से संपत्ति धारण की थी। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के आई.एल.आर. 1933 के इला. 97 के एक फैसले पर अवलंबन करते हुए यह तर्क दिया गया था कि जहां कोई बंधकदार, बंधक का भुगतान हो जाने और संपत्ति के ऋणमुक्त हो जाने के बाद भी, उस संपत्ति पर अपना कब्जा बनाए रखता है, वह संपत्ति बंधककर्ता के "विशेष कब्जे" में बनी

रहती है। हालांकि, उत्तरदाताओं ने तर्क दिया कि यह मामला केवल ऋण के भुगतान के बाद बंधकदार के कब्जे में बने रहने का नहीं था, बल्कि उन किरायेदारों का था जिन्होंने बंधककर्ता के साथ-साथ बंधककर्ता के विरुद्ध भी अपने अधिकार का दावा करते हुए संपत्ति पर कब्जा बनाए रखने का दावा किया था।

अभिनिर्धारित कि इस अपील में उत्तरदाता 1 और 2 का कब्जा उनके अपने अधिकार में था और अपीलकर्ताओं के प्रतिकूल था, यहां तक कि उस मामले में भी जिसके साथ अपीलकर्ता स्वयं न्यायालय में आए हैं।

उनके अवैध कब्जे के आधार पर ही उनके विरुद्ध मध्यवर्ती लाभ का दावा किया गया था। उपरोक्त परिस्थितियों में अपीलकर्ताओं के लिए यह तर्क देना संभव नहीं है कि ये किरायेदार बंधककर्ता की ओर से और बंधककर्ता से प्राप्त अधिकारों के रूप में संपत्ति पर कब्जा किए हुए थे। अतः धारा 6 (1) (ग) सीधे तौर पर लागू नहीं हो सकती, क्योंकि 1 जनवरी, 1955 को बंधककर्ता-बंधक संबंध विद्यमान नहीं था।

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार: दीवानी अपील सं. 195 वर्ष 1961।

पटना उच्च न्यायालय के दिनांक 3 सितंबर, 1957 के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध अपील, मूल डिक्री सं. 42/1948 के विरुद्ध अपील।

अपीलकर्ता की ओर से *सरजू प्रसाद एवं मोहन बिहारी लाल*

उत्तरदाता सं. 1 से 3 और 5 की ओर से *ए.वी. विश्वनाथ शास्त्री और डी. गोवर्धन*

25 अप्रैल, 1963 को न्यायालय का निर्णय

न्यायमूर्ति अयंगर के द्वारा दिया गया - इस अपील का संदर्भ बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 (जिसे आगे अधिनियम कहा गया है) की धारा 6 है। इस अपील में पटना उच्च न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 133 (1) का योग्यता प्रमाण पत्र लगा हुआ है।

वादी हमारे समक्ष अपीलकर्ता हैं। वाद का विषय चौगैन के मौजा में खाता सं. 741 में स्थित लगभग 14 बीघा और 5 कट्ठा भूमि का एक टुकड़ा है। वाद में मांगी गई राहत यह घोषणा थी कि संदर्भित भूमि वादियों की *जरैती* भूमि है और जिन व्यक्तियों को प्रथम और द्वितीय उत्तरदाता के रूप में पक्षकार बनाया गया है, उनका उस पर कोई अधिकार या हक नहीं है, और उक्त भूमि पर वास्तविक कब्जे में रहने वाले उत्तरदाताओं को बेदखल करके उस

भूमि का कब्जा वापस लेने की मांग की गई थी। वाद से पूर्व तीन वर्षों के मध्यवर्ती लाभ के लिए डिक्री और दी. प्र. सं. के आदेश 20 के नियम 12 के तहत भविष्य के लाभों की जांच के लिए भी मांग की गई थी। अब हम कुछ ऐसे तथ्यों का उल्लेख करेंगे जो इस अपील में उठाए गए तर्कों को समझने के लिए आवश्यक हैं। वादपत्र में मुख्य आरोप इस प्रकार थे: वादी के पूर्वजों ने 28 अक्टूबर, 1897 को उन जमीनों का एक पंजीकृत *रेहन* बांड निष्पादित किया था, जिनमें वर्तमान में विवादित जमीनें भी शामिल हैं, जो उत्तरदाता (तीसरे पक्ष) के रूप में शामिल व्यक्तियों के पूर्वजों के पक्ष में था। इस बंधक के अस्तित्व में रहने के दौरान, वादी के पूर्वजों ने जून, 1907 में एक और पंजीकृत *रेहन* बांड निष्पादित किया, जो उत्तरदाता (चौथे पक्ष) के रूप में शामिल व्यक्तियों के पूर्वजों के पक्ष में था। बंधक राशि का एक हिस्सा इन दूसरे बंधकधारकों के पास छोड़ दिया गया ताकि वे पहले वाले बंधक को छुड़ा सकें। यह छुड़ाना प्रभावी हुआ और उत्तरदाता (चौथे पक्ष) ने अपने पास बंधक रखी गई पूरी संपत्ति पर कब्जा कर लिया। 8 जून, 1941 को, वादी ने 1907 के *रेहन* बांड पर देय राशि का भुगतान किया और बांड पर पृष्ठांकन करके संतुष्टि दर्ज की। इस प्रकार छुड़ाने पर वादीगण ने बंधक रखी गई भूमि के एक हिस्से पर कब्जा तो प्राप्त कर लिया, लेकिन विवादित भूमि पर कब्जा नहीं कर सके। ये भूमि प्रथम और द्वितीय उत्तरदाताओं के कब्जे में थी, जिन्होंने भूमि पर अधिभोग अधिकार के आधार पर स्वामित्व का दावा किया और वादीगण को भूमि का वास्तविक कब्जा सौंपने से इनकार कर दिया। उन्होंने दावा किया कि विवादित भूमि *जरैंती* भूमि नहीं थी, जिस पर वादीगण मालिक होने के नाते 'खास कब्जा' के हकदार होते, बल्कि यह रैयत भूमि थी, जिससे उन्हें, यानी काश्तकार को, बेदखल नहीं किया जा सकता था। इस दावे और वादीगण द्वारा खास कब्जा लेने के विरोध के कारण, पहले से निर्धारित राहतों के लिए यह मुकदमा दायर किया गया था।

1897 और 1907 के *रेहन* बांड के तहत बंधकों के प्रतिनिधि, तीसरे और चौथे उत्तरदाता, इस मामले में न के बराबर ही शामिल हुए, क्योंकि उनके बंधकों के तहत उनके दावे बहुत पहले ही पूरे हो चुके थे। अतः विवाद केवल पहले और दूसरे पक्ष के किरायेदार-उत्तरदाताओं तक ही सीमित था, और इनमें से दूसरे उत्तरदाता पर ध्यान केंद्रित करना ही पर्याप्त है, जो मुकदमे की तारीख पर भूमि पर वास्तविक कब्जे में थे। यह शायद ही उल्लेख करने की आवश्यकता है कि अपने लिखित बयान में इन उत्तरदाताओं ने भूमि के स्वामित्व पर सवाल उठाया और 1907 के *रेहन* के भुगतान द्वारा मुक्ति के बावजूद कब्जे में बने रहने के अपने अधिकार का दावा किया।

कई मुद्दे उठाए गए जो इन दलीलों को दर्शाते थे। लेकिन अब हम निम्नलिखित मुद्दों पर विचार कर रहे हैं: (1) क्या वादी द्वारा दावा की गई विवादित भूमि ज़रैती भूमि थी या उत्तरदाताओं द्वारा दलील के अनुसार रैयती भूमि थी? (2) प्रथम और द्वितीय उत्तरदाताओं ने पहली बार भूमि पर कब्जा और खेती कब शुरू की? बचाव पक्ष कि वे 1897 के रेहन से बहुत पहले—यहाँ तक कि 30 वर्ष पहले—किरायेदार के रूप में भूमि पर कब्जा और अधिकार रखते थे, जबकि वादियों का कहना था कि उन्हें 1897 के पहले रेहन के तहत बंधकदारों के किरायेदार के रूप में पहली बार भूमि पर लाया गया था और उन्हें मूल रूप से 7 वर्षों की अवधि के लिए किरायेदार के रूप में लाया गया था जो लगभग 1912-13 में समाप्त हो गई थी। (3) क्या वादियों ने भूमि पर अपना अधिकार खो दिया था और उत्तरदाताओं द्वारा प्रतिकूल कब्जे से अपना अधिकार सिद्ध कर लेने के कारण उनकी वसूली का मुकदमा परिसीमा द्वारा वर्जित हो गया था? उत्तरदाताओं ने दावा किया कि उन्होंने परिसीमा अधिनियम की धारा 144 के तहत 12 वर्षों की वैधानिक अवधि से अधिक समय तक प्रतिकूल कब्जे से अपना अधिकार सिद्ध कर लिया था और विवाद का मुद्दा यह था कि इस प्रतिकूल कब्जे की अवधि कब से शुरू हुई और क्या उस आधार पर गणना करने पर मुकदमा परिसीमा द्वारा वर्जित था।

पक्षकारों द्वारा दस्तावेजी और मौखिक साक्ष्यों का एक विशाल संग्रह प्रस्तुत किया गया, जिस पर विद्वान विचारण न्यायाधीश ने विस्तृत विचार-विमर्श किया। उनके द्वारा दर्ज किए गए निष्कर्ष इस प्रकार थे: (1) कि भूमि वादियों की ज़रैती भूमि थी और उनके अधिकार क्षेत्र में थी। वास्तविक 1897 में पहले रेहन की तारीख को यह संपत्ति उनके कब्जे में नहीं थी और न ही उनके किसी किरायेदार के कब्जे में थी। इसका अनिवार्य अर्थ यह था कि उत्तरदाताओं द्वारा प्रस्तुत इस तर्क को खारिज कर दिया जाए कि उनकी संपत्तिपूर्ववर्तियों (1) उत्तरदाता 1897 के रेहन से पहले भी भूमि पर कब्जा किए हुए थे, (2) उत्तरदाताओं ने लगभग 1906 में निष्पादित एक पट्टा विलेख के तहत कुछ वर्षों की अवधि के लिए भूमि पर कब्जा प्राप्त किया था और वह पट्टा विलेख 1912-13 में समाप्त हो गया था और उसके बाद वे ज़राइती भूमि के किरायेदार के रूप में बने रहे और इसलिए भूमि में अधिभोग के किसी भी अधिकार का दावा नहीं कर सकते थे, (3) उत्तरदाता द्वितीय पक्ष, जो वास्तविक कब्जे में थे, निस्संदेह, अपने स्वयं के लिए भूमि पर कब्जा करने के दावे के तहत वाद भूमि पर कब्जा किए हुए थे, लेकिन उनका कब्जा वादी के प्रतिकूल नहीं हो सकता था जब तक कि बाद वाले को कब्जा पुनः प्राप्त करने का अधिकार नहीं मिल जाता, जो केवल जून 1941

में हुआ जब उन्होंने भुगतान किया और डिस्चार्ज बंधक के तहत देय राशि का भुगतान करके कब्जे का अधिकार प्राप्त कर लिया गया। चूंकि मुकदमा उस तारीख से 12 वर्षों के भीतर दायर किया गया था, इसलिए यह समय सीमा के भीतर था। इन निष्कर्षों के आधार पर, विद्वान विचारण न्यायाधीश ने 10 अक्टूबर, 1947 को अपने फैसले में, याचिका के अनुसार मुकदमे को स्वीकार कर लिया।

उत्तरदाता पक्ष (द्वितीय पक्ष) ने इन निर्णयों को चुनौती देते हुए उच्च न्यायालय में अपील दायर की। अपील लंबित रहने के दौरान उन्होंने कब्जे की सुपुर्दगी पर रोक लगाने के लिए आवेदन किया और आदेश प्राप्त कर लिया, जिसके अनुसार द्वितीय पक्ष के उत्तरदाता कब्जे में बने रहे। अपील लंबित रहने के दौरान बिहार भूमि सुधार अधिनियम (अधिनियम XXX, 1950) अधिनियमित किया गया और यह 25 सितंबर, 1950 को लागू हुआ। अधिनियम की धारा 3 (1) में अधिनियमित किया गया:

राज्य सरकार समय-समय पर अधिसूचना द्वारा यह घोषित कर सकती है कि अधिसूचना में निर्दिष्ट किसी स्वामी या काश्तकार की संपत्तियां या काश्तकार राज्य को हस्तांतरित हो गए हैं और राज्य में निहित हो गए हैं।

यह सर्वमान्य था कि वादी उस अधिनियम के अंतर्गत "मालिक" थे। अधिनियम की धारा 3(1) के अंतर्गत प्रकाशित अधिसूचना के अनुसार, वादियों की संपत्ति 1 जनवरी, 1955 से राज्य में निहित हो गई। धारा 3(1) के अंतर्गत अधिसूचना का कानूनी प्रभाव धारा 4 में निर्धारित है, जो निम्नलिखित प्रावधान करती है:

"4. किसी अन्य कानून में या किसी अनुबंध में किसी बात के होते हुए भी, धारा 3 की उपधारा (1) के तहत अधिसूचना के प्रकाशन पर निम्नलिखित परिणाम होंगे, अर्थात्:—

(क) ऐसी संपत्ति या कार्यकाल जिसमें शामिल किसी भवन या भवन के किसी भाग में, जो ऐसी संपत्ति या पट्टे में शामिल हो, स्वामी या पट्टेदार का हित, साथ ही साथ सभी उप-मिट्टी में उसका हित, निहित होने की तिथि से पूर्णतः राज्य में निहित हो जाएगा और वह सभी भारों से मुक्त होगा, और ऐसे स्वामी या पट्टेदार का ऐसी संपत्ति या पट्टे में इस अधिनियम के प्रावधानों द्वारा स्पष्ट रूप से संरक्षित हितों के अलावा कोई अन्य हित नहीं रहेगा।"

इस खंड का शेष भाग अप्रासंगिक है। हालांकि, अधिनियम की धारा 6 में स्वामी या पट्टेदार की कुछ जमीनों के संबंध में एक प्रावधान है, लेकिन इसका उल्लेख हम बाद में करेंगे।

सितंबर 1957 में उच्च न्यायालय में अपील की सुनवाई हुई। उस समय, उच्च न्यायालय के समक्ष अपीलकर्ता रहे किरायेदार-उत्तरदाताओं के विद्वान अधिवक्ता ने यह दलील दी कि यह मुकदमा, जो मूल रूप से वादियों के स्वामित्व पर आधारित बेदखली का मुकदमा था, विफल हो जाना चाहिए और खारिज कर दिया जाना चाहिए क्योंकि वादियों ने उस संपत्ति पर अपना स्वामित्व खो दिया था जो अधिनियम की धारा 3 के तहत अधिसूचना के आधार पर राज्य में निहित हो गई थी, जिसके परिणामस्वरूप धारा 4 में निर्दिष्ट बातें लागू होती हैं। वादी पक्ष के विद्वान अधिवक्ता ने इसका विरोध करते हुए यह तर्क दिया कि न्यायालय अपील की लंबित अवधि के दौरान लागू हुए कानून पर ध्यान नहीं दे सकता, बल्कि न्यायालय को मुकदमे की तिथि पर लागू कानून के अनुसार पक्षकारों के अधिकारों का निर्णय करना चाहिए। हालांकि, विद्वान न्यायाधीशों ने इस अंतिम तर्क को खारिज कर दिया और यह माना कि पक्षकारों के अधिकारों का निर्णय उनके निर्णय की तिथि पर मौजूद कानून के आधार पर किया जाना चाहिए, और इसलिए अधीनस्थ न्यायालय द्वारा दी गई राहत की पुष्टि करने से पहले वादी के स्वामित्व पर अधिनियम के प्रभाव पर विचार किया जाना चाहिए। जाहिर तौर पर, इस सामान्य तर्क के अलावा कि क्या किसी न्यायालय, विशेष रूप से अपील न्यायालय को, मुकदमे की शुरुआत के बाद कानून में हुए परिवर्तन के प्रभाव को ध्यान में रखना चाहिए या नहीं, वादी के अधिवक्ता ने उच्च न्यायालय के समक्ष यह तर्क देने का कोई प्रयास नहीं किया कि यदि अधिनियम पर ध्यान दिया भी जा सकता है, तो भी पक्षकारों के अधिकार उसी आधार पर निर्धारित किए जाने चाहिए। फिर भी, उस अधिनियम की उचित व्याख्या के अनुसार, अधीनस्थ न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा दी गई राहतों के संबंध में वादियों के अधिकार अप्रभावित रहे, जो कि, जैसा कि हम बाद में बताएंगे, हमारे सामने प्रस्तुत किया गया तर्क है।

एक और बात ध्यान देने योग्य है। यह देखा जाएगा कि वादियों ने भूमि के *जरैंती* स्वरूप के संबंध में घोषणा की मांग की थी। उन्होंने मुकदमे से पहले के तीन वर्षों के लिए मध्यवर्ती लाभ का दावा किया था, जिसे स्वीकार कर लिया गया था और इसके अलावा उन्हें मुकदमे के बाद की अवधि यानी 31.12.1954 तक मध्यवर्ती लाभ की जांच की राहत भी दी गई थी, पर इस आधार पर कि संपत्ति 1 जनवरी, 1955 से राज्य में निहित हो गई थी। इन

राहतों को बनाए रखने का वादी का अधिकार भूमि के कार्यकाल के संबंध में न्यायालय के निर्णय की शुद्धता पर निर्भर था।

किरायेदार-उत्तरदाताओं के अधिवक्ता ने उच्च न्यायालय के समक्ष अधीनस्थ न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा भूमि के ज़रैती स्वरूप और भूमि पर उनके कब्जे और खेती की तिथि तथा उनके कब्जे की प्रकृति और स्वरूप के संबंध में दिए गए निष्कर्षों की सत्यता पर सवाल उठाया। इसलिए, विद्वान न्यायाधीशों ने इन बिंदुओं से संबंधित मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्यों की जांच की और अधीनस्थ न्यायालय के न्यायाधीश के समान निष्कर्ष पर पहुंचे।

अधिनियम की धारा 4 (ईई) में निम्नलिखित प्रावधान हैं:

".....राज्य सरकार सूचना प्राप्त होने के तीन महीने के भीतर न्यायालय में पक्षकार के रूप में शामिल होने के लिए आवेदन कर सकती है, और उसे पक्षकार के रूप में शामिल कर लिया जाएगा तथा वह ऐसे मुकदमे या कार्यवाही का संचालन या बचाव करने की हकदार होगी, जैसा भी मामला हो;....."

इस प्रावधान के अनुसार राज्य सरकार को सूचना दिया गया था, लेकिन उसकी ओर से कोई उपस्थित नहीं हुआ। हालांकि, राज्य के अधिवक्ता अपील की सुनवाई में उपस्थित हुए और प्रार्थना की कि राज्य के पक्ष में वाद भूमि पर कब्जे के लिए डिक्री पारित की जाए, इस आधार पर कि अधिनियम की धारा 4 (क) के तहत यह भूमि राज्य में निहित हो गई थी। हालांकि, विद्वान न्यायाधीशों ने इस अनुरोध को इस कारण से अस्वीकार कर दिया कि राज्य ने अधिनियम के अनुसार उन्हें दिए गए सूचना पर तत्परता से कार्रवाई नहीं की थी और इसके लिए निर्धारित समय सीमा के भीतर उपस्थित नहीं हुआ था। इस प्रकार राज्य के पक्ष में कब्जे के लिए डिक्री को अस्वीकार किए जाने पर, विद्वान न्यायाधीशों ने अधीनस्थ न्यायालय के न्यायाधीशों की डिक्री को निम्नलिखित शब्दों में संशोधित किया:

"वादी अपने स्वामित्व की घोषणा के लिए इस आदेश के हकदार होंगे कि विवादित भूमि वादियों की निजी भूमि है और वे दावा किए गए वर्षों के लिए तथा 31 दिसंबर, 1954 तक मध्यवर्ती लाभ के हकदार हैं, क्योंकि वादियों की संपत्ति 1.1.55 को बिहार राज्य में निहित हो गई थी, और कब्जे का आदेश रद्द किया जाता है। मध्यवर्ती लाभ की राशि बाद की कार्यवाही में निर्धारित की जाएगी।"

वादी पक्ष ने हमारे समक्ष अपील में इसी फैसले को चुनौती दी है, जिसके तहत उन्हें संपत्ति का कब्जा देने से इनकार कर दिया गया था।

अपीलकर्ता की ओर से उपस्थित श्री सरजू प्रसाद ने अधिनियम के प्रावधानों के संदर्भ में वादियों के स्वामित्व और मुकदमे में मांगी गई राहतों के दावे पर विचार करने में उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीशों द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया की वैधता या औचित्य पर कोई आपत्ति नहीं जताई। हालांकि, उनका तर्क था कि अधिनियम की शर्तों के अनुसार ही वादी अधीनस्थ न्यायालय द्वारा दिए गए कब्जे के आदेश को बनाए रखने के हकदार थे। उनका तर्क संक्षेप में इस प्रकार था: इस सर्वसम्मत निष्कर्ष के मद्देनजर कि भूमि वादियों की ज़रूरी भूमि थी, अधिनियम की धारा 6 में दिए गए प्रावधान के कारण, जो धारा 4 के दायरे से ऐसी भूमि को बाहर रखता है जो अब मुकदमे में शामिल है, वह राज्य सरकार में निहित नहीं होगी। हालांकि, उन्होंने स्वीकार किया कि यदि धारा 6 द्वारा निर्मित अपवाद किसी कारणवश लागू नहीं होता है, तो धारा 4 के तहत राज्य में निहित होना... धारा 4 का विरोध नहीं किया जा सका, जिसके परिणामस्वरूप वादी कब्जे का आदेश प्राप्त नहीं कर सके। इसलिए, धारा 6 को पढ़ना आवश्यक हो जाता है ताकि इसके उचित दायरे का पता लगाया जा सके। वह धारा इस प्रकार है, जैसा कि वर्तमान उद्देश्य के लिए प्रासंगिक अंशों में उद्धृत किया गया है:

"6. (1) निहित होने की तिथि से, कृषि या बागवानी प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त सभी भूमि, जो ऐसी निहित होने की तिथि को किसी स्वामी या काश्तकार के कब्जे में थीं, जिनमें शामिल हैं-

(क) (i) बिहार किरायेदारी अधिनियम, 1885 की धारा 116 में निर्दिष्ट वर्षों की अवधि के लिए या वर्ष-दर-वर्ष पट्टे के तहत पट्टे पर दी गई स्वामियों की निजी भूमि,

(ii) जमींदारों द्वारा पंजीकृत पट्टे के तहत एक वर्ष से अधिक की अवधि के लिए या लिखित या मौखिक पट्टे के तहत एक वर्ष या उससे कम की अवधि के लिए, छोटा नागपुर किरायेदारी अधिनियम, 1908 की धारा 43 में निर्दिष्ट विशेषाधिकार प्राप्त भूमि,

(ख) कृषि या बागवानी प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त भूमि और जो किसी अस्थायी व्यक्ति द्वारा किसी जागीर या पट्टे के प्रत्यक्ष कब्जे में हो, जिसे वह स्वयं

अपने पशुओं, अपने नौकरों, किराए के मजदूरों या किराए के पशुओं से खेती करता हो, और

(ग) कृषि या बागवानी प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त भूमि, जो किसी विद्यमान बंधक का विषय है, जिसके मोचन पर मध्यस्थ उस पर विशेष कब्जा प्राप्त करने का हकदार है;

धारा 7क एवं 7ख के प्रावधानों के अधीन रहते हुए, ऐसी भूमि राज्य द्वारा संबंधित स्वामी या पट्टेदार को अधिसूचित मानी जाएगी, और ऐसा स्वामी या पट्टेदार उस पर कब्जा बनाए रखने और राज्य के अधीन रैयत के रूप में ऐसी भूमि पर अधिभोग अधिकार रखने का हकदार होगा, बशर्ते समाहर्ता द्वारा निर्धारित उचित एवं न्यायसंगत किराया अदा किया जाए।

यह ध्यान दिया जाएगा कि धारा 6 के तहत राज्य के कब्जे में निहित होने से केवल स्वामी के "खास कब्जे" वाली भूमि को ही बचाया गया था। 'खास कब्जा' अभिव्यक्ति को धारा 2 (के) में इस प्रकार परिभाषित किया गया है:

"कृषि या बागवानी प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किसी भूमि के स्वामी या पट्टेदार के कब्जे के संदर्भ में 'खास कब्जा' का अर्थ है ऐसे स्वामी या पट्टेदार द्वारा स्वयं अपने पशुओं, अपने नौकरों, किराए के मजदूरों या किराए के पशुओं के साथ उस भूमि की खेती करना या उस पर बागवानी कार्य करना;"

यह निवेदन किया गया कि वादी को निहित होने की तिथि, अर्थात् 1 जनवरी, 1955 को वाद भूमि पर "खास कब्जे" में माना जाना चाहिए, क्योंकि मामला धारा 6 (1) (सी) के अंतर्गत आता है, जो इस प्रकार है:

"कृषि या बागवानी प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त भूमि, जो किसी मौजूदा बंधक का विषय है, जिसके मोचन पर मध्यस्थ उस पर विशेष कब्जा प्राप्त करने का हकदार है।"

यह निवेदन किया गया कि (1) अभिव्यक्ति 'खास कब्जा' को केवल धारा 2 (k) में परिभाषित वास्तविक भौतिक कब्जे के रूप में ही नहीं, बल्कि उन मामलों में भी समझा जाना चाहिए जहाँ कोई व्यक्ति रचनात्मक रूप से कब्जे में हो, जबकि भौतिक कब्जा किसी अन्य व्यक्ति के पास हो जिसने उससे व्युत्पन्न रूप से या उसके लिए न्यास में या उसकी ओर से या उसकी स्पष्ट या निहित अनुमति से संपत्ति धारण की हो। इस उद्देश्य के लिए

विद्वान अधिवक्ता ने पटना उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ के *महंत सुखदेव दास बनाम काशी प्रसाद तिवारी*¹ के निर्णय पर अवलंबन किया। जहाँ एक सह-भागीदार के वास्तविक भौतिक कब्जे वाली भूमि को सभी सह-भागीदारों के 'खास कब्जे' में धारा 2(के) के अंतर्गत माना गया था, (2) तब यह तर्क दिया गया कि जहाँ कोई बंधकदार, उसे भोगाधिकार के आधार पर बंधक रखी गई संपत्ति पर बंधक का भुगतान और निपटान हो जाने के बाद भी अपना कब्जा बनाए रखता है, वहाँ संपत्ति बंधककर्ता के "विशेष कब्जे" में बनी रहती है क्योंकि बंधकदार संपत्ति को बंधककर्ता के प्रतिकूल रूप से धारण नहीं करता है, बल्कि उसका कब्जा अनुमति से शुरू हुआ है, इसलिए कानून के अनुसार उसे अभी भी बंधकदार के रूप में संपत्ति धारण करने वाला माना जाना चाहिए। यह इस सिद्धांत पर आधारित था कि भोगाधिकार बंधक के मामले में बंधक ऋण का भुगतान और निपटान बंधककर्ता-बंधकदार संबंध को समाप्त नहीं करता है, बल्कि यह संबंध तभी समाप्त होगा जब बंधकदार बंधक-सुरक्षा के हिस्से के रूप में बंधककर्ता को संपत्ति का कब्जा लौटाने के अपने दायित्व का पालन कर चुका हो। (3) इस तर्क के आधार पर यह तर्क दिया गया कि भोगाधिकार के आधार पर बंधक रखी गई संपत्ति पर बंधकदार से कब्जा वापस लेने के लिए बंधककर्ता द्वारा दायर किया गया मुकदमा इसलिए उपयुक्त हो सकता है। इसे "मोचन का मुकदमा" के रूप में वर्णित किया जाना चाहिए, भले ही बंधक ऋण का भुगतान कर दिया गया हो। इस अंतिम प्रस्ताव के लिए विद्वान अधिवक्ता ने बंगाल विनियमन XV, 1793 (देखें, उदाहरण के लिए, आई.एल.आर. 1933 इलाहाबाद 97) की धारा 10 की व्याख्या पर दिए गए कुछ निर्णयों पर अवलंबन किया। (4) अधीनस्थ न्यायालयों का यह निष्कर्ष कि उत्तरदाता प्रथम और द्वितीय पक्ष ने 1897 के *रेहन* के अस्तित्व के दौरान एक निश्चित अवधि के लिए किरायेदार के रूप में संपत्ति पर कब्जा किया था, ये उत्तरदाता बंधकदाता से बेहतर स्थिति में नहीं हो सकते थे और न ही उच्चतर अधिकारों का दावा कर सकते थे और उन्हें उसी इक्विटी और उसी विबंधन से बाध्य माना जाना चाहिए जिस पर बंधकदाता लागू होते हैं जिन्होंने उन्हें कब्जा दिया था। इस तर्क पर विद्वान अधिवक्ता ने प्रस्तुत किया कि अधिनियम की धारा 6 (1) (सी) इस मामले को कवर करती है क्योंकि 1 जनवरी, 1955 को - राज्य सरकार में निहित होने की तिथि - बंधककर्ता को कब्जे की वापसी के अर्थ में मोचन प्रभावी नहीं हुआ था।

आगे बढ़ने से पहले उत्तरदाता के विद्वान अधिवक्ता द्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत तर्क पर ध्यान देना आवश्यक है। उनका निवेदन था कि अभिलेख में मौजूद साक्ष्यों के आधार पर वे

¹(1) ए.आई.आर. 1958 पटना 630,

इस प्रश्न पर उच्च न्यायालय के निर्णय को सफलतापूर्वक चुनौती दे सकते हैं कि क्या भूमि वादियों की ज़रैती भूमि थी। उन्होंने तर्क दिया कि उत्तरदाता द्वारा यह स्थापित करने के लिए प्रस्तुत साक्ष्यों का गंभीर रूप से गलत मूल्यांकन किया गया था कि वे 1897 के *रेहन* बांड से पहले भी वाद भूमि पर कब्जा रखते थे और खेती कर रहे थे, और यह त्रुटि इतनी गंभीर थी कि यह उस नियम के अपवाद के अंतर्गत आती है जिसके अनुसार यह न्यायालय समवर्ती तथ्यात्मक निष्कर्षों पर प्रश्न उठाने की अनुमति नहीं देता है। हालांकि, हमने दो बातों को ध्यान में रखते हुए विद्वान अधिवक्ता को मामले के इस भाग पर कोई तर्क देने की अनुमति नहीं दी: (1) चूंकि उत्तरदाता ने उच्च न्यायालय के उस निर्णय के विरुद्ध कोई अपील दायर नहीं की थी जिसमें वादियों को भूमि को ज़रैती घोषित किया गया था और 31 दिसंबर, 1954 तक मध्यवर्ती लाभ के लिए डिक्री भी दी गई थी, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि भले ही उत्तरदाताओं ने यदि यह साबित करने में सफलता प्राप्त हो जाती है कि भूमि रैयत भूमि थी न कि *ज़रैती*, तो इससे पारित डिक्री पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और इससे केवल यही होगा कि वे वादी को कब्जे की राहत से वंचित करने के अपने निर्णय को न्यायसंगत ठहरा सकेंगे। (2) दूसरा मुद्दा जिस पर हमने भूमि के कार्यकाल आदि से संबंधित निष्कर्षों पर बहस की अनुमति न देने का निर्णय लिया, वह यह था कि हम अपीलकर्ता द्वारा उठाए गए कानूनी बिंदुओं से प्रभावित नहीं थे और इस मामले के तथ्यों के संदर्भ में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इस कारण अपील खारिज कर दी जानी चाहिए। इसलिए, यह नहीं माना जाना चाहिए कि हमने विद्वान विचारण न्यायाधीश और उच्च न्यायालय द्वारा भूमि के *ज़रैती* स्वरूप और उन जमीनों में अधिभोग अधिकारों के लिए उत्तरदाता प्रथम और द्वितीय पक्षों के दावे के संबंध में दर्ज किए गए निष्कर्षों की पुष्टि की है या उनसे असहमति जताई है।

यह याद किया जा सकता है कि धारा 6 (1) (ग) के प्रावधानों के तहत, किसी स्वामी की ज़रैती भूमि को उसके 'खास कब्जे' में माना जाएगा यदि वह 1 जनवरी, 1955 को विद्यमान एक भोगबंधक का विषय हो और बंधककर्ता को उस पर कब्जा वापस पाने का अधिकार हो। तर्क यह था कि अपीलकर्ताओं द्वारा इन आवश्यकताओं को पूरा किया गया था और जब तक बंधककर्ताओं को संपत्ति का कब्जा वापस नहीं मिल जाता, तब तक 1907 का *रेहन* जीवित और "अस्तित्व में" था, भले ही बंधक राशि का भुगतान 1941 में कर दिया गया था। विद्वान अधिवक्ता ने हमें संपत्ति हस्तांतरण अधिनियम की धारा 62 और अनुच्छेद के प्रावधानों की ओर ध्यान दिलाया। भारतीय परिसीमा अधिनियम की पहली अनुसूची के अनुच्छेद 148 में, जिसमें बंधककर्ता द्वारा कब्जे के लिए दायर किया गया मुकदमा बंधकग्राही

के विरुद्ध बताया गया है, यह दर्शाता है कि तीसरे स्तंभ द्वारा निर्धारित 60 वर्षों की पूरी अवधि के दौरान बंधककर्ता-बंधकग्राही संबंध जारी रहा। उन्होंने इस दृष्टिकोण के समर्थन में उच्च न्यायालयों के कुछ निर्णय भी हमारे समक्ष रखे कि बंधक राशि के भुगतान के बाद बंधक संपत्ति पर कब्जा बनाए रखने वाला बंधकग्राही, बंधककर्ता की ओर से और उसके लिए न्यास के रूप में संपत्ति को धारण करता है। हालाँकि, हम इन दलीलों पर आगे चर्चा करना या इस पर कोई प्रासंगिक राय दर्ज करना आवश्यक नहीं समझते हैं। क्योंकि यह विवादित नहीं था कि एक बंधकग्राही (और एक बड़ा कारण अतः, बंधकधारक के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति (यद्यपि उसका कब्जा बंधकधारक के कब्जे से ही उत्पन्न हुआ हो) प्रत्यक्ष कृत्यों और खुले दावों द्वारा संपत्ति को बंधककर्ता की ओर से नहीं, बल्कि अपने अधिकार से तथा बंधककर्ता के विरुद्ध धारण कर सकता है। हालाँकि, श्री सरजू प्रसाद ने पटना उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ के सुखदेव दास बनाम काशी प्रसाद⁽²⁾ के निर्णय में दिए गए कुछ अवलोकनों पर अवलंबन किया, जहाँ विद्वान न्यायाधीशों ने भारतीय परिसीमा अधिनियम के अंतर्गत आवश्यक समय तक प्रतिकूल कब्जे द्वारा अपना स्वामित्व सिद्ध न कर पाने वाले अतिक्रमणकर्ता के कब्जे को भी वास्तविक स्वामी का विशिष्ट कब्जा माना है। हमारा मानना है कि कब्जे के अधिकार को "विशिष्ट कब्जे" के समतुल्य मानना सिद्धांत या प्राधिकार द्वारा उचित नहीं है। इसके अलावा, यह पूर्ण पीठ के उस तर्क के भी असंगत है जिसके अनुसार रचनात्मक कब्जे को विशिष्ट कब्जे की अवधारणा के अंतर्गत माना जाता है।

वर्तमान मामले में उत्तरदाता पक्षों का कब्जा उनके अपने अधिकार के तहत था और वादी पक्षों के विरुद्ध था, यहाँ तक कि उस मामले में भी जिसके साथ अपीलकर्ता स्वयं न्यायालय में आए थे। वादी पक्षों ने अपनी शिकायत में कहा है कि बंधक-ग्राहियों ने, जहाँ तक उनका संबंध है, अपने दायित्वों को पूरा किया था और बंधक-ग्राहियों को यथासंभव संपत्ति का कब्जा दिलाया था, और यह उत्तरदाता पक्ष ही थे जिन्होंने अधिभोग अधिकारों का दावा करते हुए उनके कब्जे का विरोध किया था। इसलिए, यह बंधक-ग्राही द्वारा ऋण के भुगतान के बाद बिना किसी अतिरिक्त कारण के कब्जे में बने रहने का मामला नहीं है, बल्कि उन किरायेदारों का मामला है जिन्होंने बंधक-ग्राही और बंधककर्ता दोनों के विरुद्ध समान रूप से अधिकार जताकर संपत्ति पर कब्जा बनाए रखने का दावा किया। इस संदर्भ में, उत्तरदाता पक्षों के कब्जे की प्रकृति से संबंधित वादी पक्षों द्वारा दिया गया तर्क अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि यदि वे स्वीकार्य रूप से अतिक्रमणकारी थे, तो उन्हें बंधक-

²ए.आई.आर. 1958 पटना 630.

ग्राहियों की ओर से संपत्ति पर कब्जा रखने वाला नहीं कहा जा सकता था और मुकदमे का पूरा आधार ही धराशायी हो जाता है। वादी के खास कब्जे में संपत्ति होने का तर्क समाप्त हो जाएगा। वादपत्र का अनुच्छेद 10 इस प्रकार है:

"..... यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उत्तरदाताओं (प्रथम या द्वितीय पक्ष) का विवादित भूमि में वादियों के विरुद्ध कोई काश्त अधिकार नहीं है, और *रेहन* के छुड़ाए जाने के बाद उनका कब्जा और अधिभोग पूरी तरह से अवैध है।"

उन्होंने अगले कंडिका में निहित विचार का विस्तार किया है, जिसे हम पूरी तरह से प्रस्तुत करेंगे।

"8 जून, 1941 को वादी ने पूरी *रेहन* राशि का भुगतान करके 10 जून, 1907 के *रेहन* बांड के तहत *रेहन* संपत्ति को छुड़ा लिया और उक्त बांड के अंतर्गत आने वाली *रेहन* संपत्ति पर कब्जा कर लिया। लेकिन जब वादी अनुसूची संख्या 3 में दर्ज विवादित भूमि पर कब्जा करना चाहते थे, तो उत्तरदाता द्वितीय पक्ष ने उत्तरदाता प्रथम पक्ष के साथ मिलीभगत करके वादी को कब्जा करने नहीं दिया और वादी के स्वामित्व पर 'नया अतिक्रमण' किया।"

यह कहना शायद ही आवश्यक है कि उत्तरदाता प्रथम और द्वितीय पक्ष ने रैयती भूमि पर खेती करने वाले किरायेदारों के रूप में वैध रूप से कब्जे के अपने अधिकार का दावा करने के अलावा, यह भी दावा किया कि उन्होंने 12 वर्षों से अधिक के प्रतिकूल कब्जे के कारण और "स्थापित रैयत होने के कारण, जिसे मालिक हमेशा से स्वीकार करते रहे हैं, आदि..." के आधार पर यह अधिकार प्राप्त किया था। इस बिंदु के संबंध में तैयार किया गया प्रासंगिक मुद्दा मुद्दा सं. 9 था, जो इस प्रकार था:

"क्या प्रतिवादी दूसरा पक्ष या पहला पक्ष ने प्रतिकूल कब्जे से मुकदमे वाली ज़मीन में कोई अधिकार हासिल किया है?"

और इसी मुद्दे पर विचार करने के लिए न्यायालय के लिए यह पता लगाना आवश्यक था कि उनका कब्जा किस तिथि से प्रतिकूल हो गया। विद्वान विचारण न्यायाधीश द्वारा दर्ज किया गया निष्कर्ष इस प्रकार था:

".....रेहनदार (प्रथम और द्वितीय) को विवादित ज़ेराइत भूमि में किरायेदारी बनाने का कोई अधिकार नहीं था और उनके कब्जे के दौरान उनके द्वारा बनाई गई

कोई भी किरायेदारी 1941 में वादी द्वारा बंधक छुड़ाए जाने पर स्वतः समाप्त हो गई। उत्तरदाता प्रथम पक्ष या उत्तरदाता द्वितीय पक्ष का कब्जा 1911 में *रेहन* के छुड़ाए जाने पर वादी के विरुद्ध अतिक्रमणकारी का हो गया; और चूंकि मुकदमा मोचन की तारीख से 12 वर्षों के भीतर दायर किया गया है, इसलिए मुकदमा समयसीमा से बाधित नहीं है और वादी खास कब्जे को पुनः प्राप्त करने के हकदार हैं... वादी उन दोनों को अतिक्रमणकारी मानने के हकदार हैं और उनका कब्जा मोचन की तारीख यानी 1941 से वादियों के विरुद्ध प्रतिकूल हो जाएगा। चूंकि मुकदमा 1941 से 12 वर्षों के भीतर दायर किया गया है, इसलिए वादियों का विवादित भूमि पर खास कब्जा पुनः प्राप्त करने का अधिकार समयसीमा से बाधित नहीं होगा।"

और यही विचार फैसले के बाद के एक अंश में दोहराया गया है। मामले के इस पहलू पर उच्च न्यायालय के फैसले में विचार नहीं किया गया है, जाहिर तौर पर इसलिए क्योंकि मामले के अन्य हिस्सों पर अपने निष्कर्ष के मद्देनजर, 12 वर्षों से अधिक के प्रतिकूल कब्जे के आधार पर उत्तरदाताओं के स्वामित्व को उच्च न्यायालय के समक्ष नहीं उठाया गया था।

श्री सरजू प्रसाद द्वारा उद्धृत प्राधिकारियों का केवल यही कहना है कि जहां केवल इतना ही ज्ञात हो कि बंधक छुड़ाने के बाद भी बंधकग्राही संपत्ति पर अपना कब्जा बनाए रखता है, वहां बंधकदाता का संपत्ति की वसूली के लिए मुकदमा करने का अधिकार बंधकदाता और बंधकग्राही के बीच निरंतर संबंध पर आधारित 60 वर्ष के नियम द्वारा नियंत्रित होता है। हालांकि, इन्हीं प्राधिकारियों से यह भी पता चलता है कि यदि बंधकग्राही किसी प्रत्यक्ष कार्य द्वारा बंधकग्राही के रूप में अपनी भूमिका का त्याग कर बंधकग्राही को सौंप देता है और बंधकग्राही की जानकारी में स्वयं को स्वामित्व प्रदान करता है, तो उसका कब्जा बंधकग्राही के रूप में नहीं बल्कि अतिक्रमणकारी के रूप में जारी रहेगा और उससे संपत्ति की वसूली के लिए मुकदमा अनुच्छेद 144 के तहत नियंत्रित होगा, जहाँ परिसीमा की शुरुआत उस तारीख से होती है जब इरादे की स्पष्ट अभिव्यक्ति से कब्जा प्रतिकूल हो गया। यह उन मामलों में और भी अधिक लागू होता है जहां न्यायालय का संबंध बंधकधारक के कब्जे से नहीं बल्कि किसी अन्य व्यक्ति के कब्जे से होता है, जैसे कि इस मामले में, अधिभोग अधिकारों का दावा करने वाले किरायेदारों से। जब बंधक छुड़ाया गया, तो उन्होंने बंधककर्ता के कब्जे के दावे का विरोध किया और काशत किरायेदारों के रूप में कब्जे में रहने के अपने अधिकार पर जोर दिया। उनके कब्जे को गलत ठहराते हुए उनके खिलाफ मध्यवर्ती लाभ का दावा किया गया और उन्हें अतिक्रमणकारी मानते हुए उन पर मुकदमा चलाया गया

और उनसे कब्जा वापस लेने की मांग की गई। इन परिस्थितियों में, हम मानते हैं कि अपीलकर्ताओं के लिए यह तर्क देना संभव नहीं है कि ये किरायेदार बंधककर्ता की ओर से और बंधककर्ता से प्राप्त अधिकारों के रूप में संपत्ति पर कब्जे में थे। इसलिए, धारा 6 (1) (ग) स्पष्ट रूप से लागू नहीं हो सकती क्योंकि यदि अपीलकर्ता के विद्वान अधिवक्ता द्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत व्याख्या को स्वीकार भी कर लिया जाए, तब भी 1 जनवरी, 1955 को बंधककर्ता-बंधक संबंध अस्तित्व में नहीं था।

परिणामस्वरूप, अपील विफल हो जाती है और उसे लागत सहित खारिज कर दिया जाता है।

अपील खारिज कर दी गई।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमन्य होगा।